

## आलोचक विश्वम्भर नाथ उपाध्याय : आलोचना—दृष्टि और पद्धति

डॉ. आर.पी. वर्मा,

एसो. प्रो. एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,

राजकीय महाविद्यालय गोसाईंखेड़ा,

जनपद—उन्नाव, उ.प्र.

“आलोचना” के प्रत्यय पर ही आलोचकों में एकता नहीं है और विचारकों—दार्शनिकों और तत्वज्ञानियों में है—चारों तरफ से, आसमन्तात् विवेच्य वस्तु या विषय का अवलोकन आलोचना है। इस अवलोकन, इस देखने में, प्रेक्षण में, पर्यवेक्षण में रचना का मूल्य क्या है, उसका ढाँचा और ढब अर्थात् उसकी अंतर्वस्तु और कला क्या है, इन दोनों में अंतस्संबंध क्या है, उस व्यक्ति का कृति का, पूर्व परम्परा में स्थान क्या है, वैश्विकस्तर पर तुलनात्मक दृष्टि से उस कृति या व्यक्ति का विषय का दर्जा कौन सा है, इन सब प्रश्नों का उत्तर आलोचना देती है तथापि समग्रतः आलोचकों की दो कोटियां बन जाती हैं। प्रथम कोटि में विचारक—प्रकार के आलोचक हैं। इन्हें अर्न्वस्तु प्रधान आलोचक भी कह सकते हैं क्योंकि ये समर्थ होने पर भी भाषा संरचनादि की बारीक नुक्ताचीनी नहीं करते हैं और दूसरी कोटि में वे आलोचक हैं जिन्हें वकील डॉ० उपाध्याय, “कृतीक्षक”—आलोचक कह सकते हैं। ये आलोचक रचना के बाह्यपक्ष की बारीकियों और बनावटों तक ही सीमित रखते हैं। इन दोनों का मिश्रित रूप भी मिल सकता है। परन्तु समग्रतः उक्त कोटियां बन सकती हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी वैचारिक—आलोचक थे और नामवरसिंह, श्री मधुरेश डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, श्री विजयदेव नारायण साही आदि “नयी समीक्षा” से प्रभावित आलोचकों को कृतीक्षक—आलोचक कहा जा सकता है। “कृतीक्षक” रचना को प्रायः स्वायत्त

मानते हैं जबकि विचारक—आलोचक, रचना के रिश्ते तलाशने के लिए कृतिकार के विश्वदर्शन, जीवन—सिद्धान्त, सामाजिक—राजनैतिक प्रवृत्ति आदि द्रविणाप्राणायामी मार्ग अपनाते हुए, बड़े सोच विचार के बाद, रचना के समय स्वरूप और वह किस प्रवृत्ति की प्रतिनिधि रचना है, किस समुदाय संस्कृति या वर्ग को—इस सब पर सोचते हुए रचना को उसकी पृष्ठभूमि, प्रवाह और प्रवृत्ति के पूरे प्रकरण में देखते हैं और चूंकि यह विचार क्षेत्र विशद और अनन्त है अतः ऐसे विचारमीमांसक

आलोचक, दर्शन—धर्म—समाजशास्त्र—विज्ञान—मनोविज्ञान आदि शास्त्रों से टकराते उन्हें टटोलते, उनसे नए प्रत्यय वसूलते, उनसे विश्लेषण की नयी प्रविधियाँ बनाते तथा जिज्ञासा मात्र की तृप्ति करने के लिए अपने को ज्ञान—विज्ञानात्मक बनाते हैं और अपनी विचाराधारा या विश्वबोध, मूल्य—समुच्चय का विकास करते देखते हैं जैसे डॉ० देवराज, डॉ० राम विलास शर्मा, डॉ० शिवदान सिंह चौहान, डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डॉ० रमेश कुंतल मेघ आदि।

इसमें डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने विचारों की, विचाराधारा की, जो साहसिक यात्रा की है, वह रोमांचकारी है क्योंकि उसमें जिज्ञासाओं का बाहुल्य है। यदि डॉ० उपाध्याय को गणित (मैथूस) में भी प्रवीणता प्राप्त हो जाती तो वह शादय प्राकृतिक विज्ञानों का ही अध्ययन करते रहते किन्तु वह मूलभूत प्रच्छाओं और प्रश्नों से परेशान रहते हैं। अतः अपने प्रिय भौतिकवादी

द्वन्द्ववाद को विवेकसंगत सिद्ध करने के लिए वह भौतिक-रसायन-प्राणिशास्त्र वनस्पतिशास्त्र आदि की नवीनतम जानकारियों के लिए पृच्छते-पढ़ते हैं कि अंततः यह जो विश्वरूपी रचना या सृष्टि है, इसकी रचना प्रक्रिया क्या है ? क्या इस सृष्टि का कोई रचनाकार है, स्पष्ट है या यह जड़ प्रकृति की स्वाभाविक प्रक्रियाओं का सांयोगिक परिणाम है?

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के वैचारिक विस्तार का कोई परिसीमन नहीं हैं—वह आजीवन इसी प्रश्न को हल करने के लिए प्रायः सभी दर्शनों, धर्मों, साधनाओं में भटकते रहे हैं और उन्होंने तभी अपना आलोचनात्मक कार्य, साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि से शुरू किया है। ढूँढ की अनन्तता के कारण उन्हें दुंदिराज भी कहा जाता है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद : मार्क्सवाद से प्रभावित होने से पूर्व विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, किसी भी सनातनी परम्परानिष्ठ व्यक्ति की तरह अध्यात्मवादी थे। गीता पढ़कर भोजन करने वाले, कीर्तनकारी, अपनी जन्मजात अतिकल्पना के कारण राम-कृष्ण-शिव के ध्यान में तल्लीन हो सकने वाले किन्तु तब भी जिज्ञासा से ग्रस्त अतंत यह सब क्या है, जीवन क्या है, सृष्टि क्या है, प्रयोजन क्या है और यह कि जो दुःख है दारिद्र्य, यह शक्ति सम्पन्नों का अत्याचार यह सब कैसे दूर हो सकता है?

डॉ० उपाध्याय की प्रश्न तृष्णा को पहले एक सीमा तक समाजवादी (सम्पूर्णानंद आचार्य नरेन्द्र देव आदि) ने संतुष्ट किया किन्तु दार्शनिक पद्धति में स्वयं शिक्षित उपाध्याय जी के मन में प्रश्न उठता है कि वेदान्त और समाजवाद का मिश्रण कैसे सम्भव है? यदि सृष्टि के मूल में चेतन सत्ता मान्य होगी तो ब्रह्म और जगत् दो सत्ताएं माननी होंगी या जगत् का अपलाप करना होगा जैसा आदिशंकराचार्य ने किया है अतएव या तो मानों कि सृष्टि के मूल में चिन्मय सत्ता है

और जगत् उसकी सृष्टि या रचना है या फिर यह मानों कि सृष्टि के मूल में पदार्थ है, भौतिक तत्व, मैटर और चेतना उसका गुणात्मक प्रतिफलन है। विश्वम्भरनाथ को भौतिकवाद, उसमें भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी, विवेकसंगत व्यवस्थित (कंसिस्टेंट) और विज्ञान के अन्वेषणों के अनुकूल लगा अतः वह उनका विश्वबोध बन गया और उन्होंने धर्म-साधना या विश्वास-संकुलों या योगज रहस्यों, आकस्मिक संयोगों आदि की बौद्धिक-वैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयत्न किया है अतः वह साहित्यिक कृति से लेकर प्राकृतिक-सृष्टि के विकासवादी-द्वन्द्ववादी दृष्टि के ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण के व्याख्याकार हैं तथापि प्रकृति और मानव मनोविज्ञान में अनेक अव्याख्येय तत्व हैं जिनका प्रतिभ-बोध तो होता है, कौंध या विद्युत आलोकवत् किन्तु वह बुद्धि के अनुशासन में नहीं। यह अकस्मात् में नहीं। यह अकस्मात् बोध, बुद्धि के परे है (बुद्धेः परतः तु सः) अतएव डॉ० उपाध्याय में एक संशय, एक प्रश्नतृष्णा सदा बनी रहती है कि यह जो अन्तस्प्रज्ञा है (इन्ट्यूशन) जो कविता रचाता है, चरित्रों और स्थितियों को आंतरिक आलोक से दर्शाता है, वह किस तरह व्याख्यायित हो, इस अंतस्प्रज्ञा की सत्ता समानान्तर है, या समूचे व्यक्तित्व का अंग है?

‘जाग मछन्दर गोरख आया’ तथा ‘जोगी मत जा’ में योग पद्धति से प्रातिभ चमत्कारों को समझने का प्रयत्न किया गया है और डॉ० उपाध्याय यह मानते हैं कि परामनोविज्ञान-मनोविश्लेषण, गुण-सूत्र विज्ञान, जैनेटिक्स और परिवर्तन (कंडीशनिंग) का विज्ञान, योग के रहस्यों का भेदन एक हद तक कर सकता है किन्तु वर्तमान ज्ञान-विज्ञान की जो स्थिति है, उसके आधार पर प्रकृति और व्यक्ति के रहस्यों : चमत्कारों का पूर्ण बौद्धिक-विश्लेषण सम्भव नहीं है, न अध्यात्मवाद इस ग्रन्थि को सुलझा सका है, न भौतिकवाद अतः डॉ०

उपाध्याय तुलसी की चौपाई को उद्धृत करते हुए विचारकों को चुनौती देते जान पड़ते हैं।

## जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई

आज तक कोई दार्शनिक या वैज्ञानिक इस गुल्थी को सुलझा नहीं सका कि जड़ पूर्ववर्ती है या चेतन। अध्यात्मवाद और जुड़वाद या भौतिक दोनों अनेक प्रश्नों को उत्पन्न करते हैं। अतएव डॉ० उपाध्याय इन्हें सदा खुले हुए, हठी प्रश्न मानते हैं। असमाधानेय। तथापि वह टकराते इन्हीं प्रश्नों से हैं क्योंकि इसके बिना सुसंगत विश्वबोध नहीं मिल सकता और उसके बिना, संसाररूपी रचना का स्वरूप उसकी अन्य परिघटनाओं में अंतसंबंध, स्पष्ट नहीं हो सकते। कृतीक्षक यहीं नहीं जानते कि कृति मात्र भाषा या शैली या बुनावट भर नहीं है बल्कि वह एक दीर्घ इतिहास, एक समाज संघटना, एक संस्कृति, एक कालविशेष में देश काल, पात्र की हालचल की एक विशेष उपज है। अतः कृतीक्षक बेचारा पल्लव गिनता रह जाता है, पत्तियों की बुनावट देखता रह जाता है, जबकि किसलयों के प्रभावों का रहस्य वृक्ष के अवयवों की विशिष्ट संगति ही नहीं, पूरे भूगोल, परम्परा और बीज प्रवृत्तियों में है। काव्य या कथा, उपन्यास या नाटक, यह दीर्घ द्वन्द्व या आंतरिक हलचलों का निथरा हुआ बिन्दु है जिसमें समुद्र समायुक्त हुआ है। वह बाहरी अवयवों या अंलकारादि के गिनने से नहीं जाना जा सकता। उसके लिए व्यक्ति और समाज के इतिहास और संस्कृति के समूचे संजाल को समझना होगा। अतएव आलोचना मात्र कृतीक्षा नहीं है। वैचारिक या विश्लेषक आलोचना ही विवेचक को बड़ा बनाती है क्योंकि उसे पढ़ते समय, पाठक को सम्पूर्णता, समग्रता या विश्वम्भरता की अनुभूति होती है और इसके लिए आलोचक दृष्टिपरिसीमन से बंध नहीं सकता। विचार की इस साहसिक-यात्रा, विचार के इस रोमांच और उड्डयन, उसके गौरव या मूल्यवत्ता पर ध्यान न

देने से मधुरेश जी को डॉ० उपाध्याय की कृतीक्षाओं में 'छुटपुटपन' दीखता है। यही नहीं डॉ० रांगेय राघव पर लिखते हुए भी उन्होंने उन की रोमांचकारी वैचारिकता को महत्व नहीं दिया वस्तुतः ये कृतीक्षक के लक्षण हैं और इस आलोचनात्मक लेखन को गौणता ही मिलती है।

डॉ० उपाध्याय समाजविज्ञानों के क्षेत्रों में तो गहरी पैठ रखते ही हैं, वह आधुनिक विश्लेषण प्रविधियों से भी परिचित हैं। अतएव उनकी कृतीक्षाओं या रचना विशेष पर लिखी समीक्षाओं में, एक वाक्य में ब्यौरों को समेटकर सूत्रात्मक शैली का प्रयोग मिलता है।

आलोचनात्मक प्रतिभा का वैशिष्ट्य यह है कि वह मात्र कृतियों तक सीमित न रह कर साहित्यिक परम्परा का साक्षात्कार करती है। और उसमें कृति को रखकर उसका मूल्य निर्धारित करती है। डॉ० उपाध्याय ने जहाँ कृतियों पर लिखा (शायद सर्वाधिक) वहीं वह प्रमुखतः प्रवृत्तियों के पारखी है, वस्तुतः उनके अवधान में प्रवृत्तियों को सूक्ष्मदर्शिता ही अधिक है। तभी उन्होंने आदि, मध्यकाल से लेकर समकालीन सृजन तक प्रवृत्तियों की पहचान की है और यह प्रवृत्तिबोध अचूक है। जैसे, उनके द्वारा 'समकालीन' संवर्ग का अन्वेषण। डॉ० उपाध्याय ने समकालीन कोटि के द्वारा ऐसे साहित्य की मांग की है जो अपने समय के यथार्थ का, उसके संकटों, संक्रान्ति और मूल्यसंक्रमणों तथा परिवर्तन के लक्ष्यों के प्रति सचेत हो और हिन्दी साहित्य में डॉ० उपाध्याय की समकालीनता की अवधारणा स्थापित हो गई है। इसके पीछे डॉ० उपाध्याय का क्रान्तिकारी समाजदर्शन या वांछनीय मूल्य-समुच्च सक्रिय है।

डॉ० उपाध्याय किसी भी बड़ी प्रतिभा की तरह एक दीर्घ बौद्धिक संघर्ष के फलस्वरूप भारतीय काव्यशास्त्र का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में अध्ययन, संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव, समकालीन मार्क्सवाद, समकालीन कविता

की भूमिका जैसे मानक तथा आलोचना से आगे का कार्य है। वस्तुतः शुक्लोत्तर आलोचना के ये गौरवग्रन्थ हैं। 'बाबा वाक्यम् प्रमाणय' की रूढ़ि से ग्रस्त लोगों को समझना चाहिए और शुक्लोत्तर आलोचना से यह स्वतः प्रमाणित है कि हिन्दी आलोचना सर्वसमावेशी और विविधायामी हुई है और उसमें गहन, सघन विश्लेषण की क्षमता का ऐश्वर्य और बौद्धिकता का वैभव समाहित है।

डा० श्यामसुन्दर घोष ने डॉ० उपाध्याय के प्रारम्भिक लेखन को पारम्परिक कहा है जो अयुक्त है, क्योंकि विचारधारात्मक बहस में डॉ० उपाध्याय की निराला की साहित्य साधना पंतजी का नूतन काव्य और दर्शन, आधुनिक साहित्य आदि वे कृतियां हैं, जिनमें संकीर्ण समाजशास्त्री आलाचकों के एकांगी, पूर्वाग्रही परिप्रेक्ष्य को दुरुस्त किया गया है और युक्तियुक्तता तथा वस्तुगतता का समर्थन है। पंतजी का नूतन काव्य दर्शन, वह कृति है, जिसकी प्रशंसा स्वयं श्री सुमित्रानन्दन पंत ने भी की थी यद्यपि वे डॉ० उपाध्याय की विचारधारा से असहमत थे।

डॉ० उपाध्याय की आलोचना मात्र गुणदोष विवेचन नहीं है, वह सही विश्वबोध और समाजबोध के विकास का अभियान है। अतः उन्होंने छठे दशक में परालौकिकवादी, अतिकल्पनात्मक अरविन्द दर्शन को यथावत् प्रस्तुत कर, हिन्दी में उसका प्रथम समीक्षण प्रस्तुत किया जो आज तक बेजोड़ है।

इसी तरह, डॉ० उपाध्याय ने विचारधारात्मक अभियान के तहत, कबीर और सूर पर लिखा, जिसमें शुक्लोत्तर आलोचना का प्रखर और शुद्ध बोध मिलता है। यहाँ आचार्य शुक्ल के पूर्वाग्रहों को खंडन है। भारतीय विशेषकर हिन्दी साहित्य की क्रान्तिकारी या यथार्थवादी परम्परा सिद्धों : नाथों : संतों की कविता के द्वारा प्रशस्त हुई है। इस विद्रोही और समता-समर्थक, पाखंड : वर्णवादविरोधिनी मानववादी परम्परा को डॉ० उपाध्याय ने पूरी स्पष्टता, प्रखरता और विद्वता के

साथ पुष्ट किया है और इसी समाज परिवर्तक संवेदन और बोध का सिलसिला उन्होंने स्वच्छन्दतार, प्रगतिवादी समकालीन सृजन में देखा है, जिसका मंतव्य एक ऐसे समाज का निर्माण है—जिसमें मानवीय सौन्दर्य, शिवत्व और सत्य हो और वर्ण जाति वर्ग के भेदभाव न हों। इसके साथ डॉ० उपाध्याय विवेक और विज्ञान पर आधारित वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टिकोण के विकास को भी रेखांकित करते चलते हैं। इसी संदर्भ में डॉ० उपाध्याय ने समसमाज परिवर्तन, 'दूसरी परम्परा' को आगम-परम्परा में देखा है जो जैन-बौद्ध, आजीवक-सांख्य और तांत्रिक योगियों के साहित्य द्वारा निर्मित हुई है। डा० उपाध्याय ने इसलिए सरहपा गोरख, कबीर, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द्र तथा समकालीन विक्षुब्ध-विद्रोही रचनाकारों को 'द्वितीय परम्परा' का स्थापक-उन्नायक माना जाता है, जिसमें वह स्वयं एक ज्वलन्त व्यक्तित्व हैं। इस तरह डॉ० उपाध्याय ने भारतीय संस्कृति और परम्परा की वैज्ञानिक भौतिकवादी या मार्क्सवादी व्याख्या कर मार्क्सवाद का भारतीयकरण किया है।

अतएव डॉ० उपाध्याय के लेखन में प्रारम्भिक और उत्तरवर्ती जैसे विभाजन अयुक्त हैं। उनमें प्रारम्भ से अन्त तक वैचारिक एकसूत्रता और सुसंगति है।

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की प्रत्येक कृति आलोचनात्मक चुनौती का परिणाम है। जो कार्य कियी ने नहीं किया था, उसे डॉ० उपाध्याय ने किया है। 'हिन्दी की दार्शनिक पृष्ठभूमि' नहीं थी, अतः उसे उन्होंने लिखा। 'वादों' का विवेचन नहीं था, अतः हिंदी के प्रमुख वाद उन्होंने लिखा। अरविन्द दर्शन का प्रभाव कवियों पर बढ़ रहा था अतः उसकी अयुक्तता का उद्घाटन किया। 'आधुनिक हिन्दी कविता' में उर्दू की कविता और गीत साहित्य बहिष्कृत थे, अतः उन्होंने इन्हें शामिल किया। कबीर को आचार्य शुक्ल और श्री

नन्द दुलारे बाजपेयी कवि ही नहीं मानते थे। डॉ० उपाध्याय ने कबीर के काव्य सौन्दर्य का उन्मीलन किया। सूरदास में सामाजिकता का अभाव देखा जाता था, डॉ० उपाध्याय ने सूरदास के सामाजिक योगदान को सप्रमाण प्रस्तुत किया। डॉ० रामविलास शर्मा के आक्रमणों से क्षत-विक्षत श्री सुमित्रा नन्दन पंत के कोमल काव्य की महत्ता स्थापित की और पंत और निराला को एक-दूसरे के पूरक कवियों के रूप में मूल्यांकित किया, स्थापित किया।

अतएव डॉ० उपाध्याय पर यह ग्रंथ सही मूल्यांकन और मूल्यान्वेषण का शुभारम्भक मात्र है। यह अंतिम मूल्यांकन नहीं है। इसके द्वारा यकीनन डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के आलोचनात्मक साहित्य की महत्ता और मौलिकता की ओर ध्यान आकर्षित होगा।

जिस व्यक्ति की दृष्टि में समूची भारतीय परम्परा, विदेश का ज्ञान, साहित्य और कला, इतिहास दर्शन और विचार प्रवाह चलचित्र की तरह चलता हो, जिसने कृतियों और प्रवृत्तियों पर सबसे अधिक लिखा हो, उस पर हिन्दी में एक भी लेख पूरा विश्वम्भर-साहित्य पढ़कर न लिखा गया हो, यह विडम्बना ही है।

डॉ० शिवदान सिंह चौहान का यह वक्तव्य है कि प्रगतिशील आलोचना में दो प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व उभरे, डॉ० नामवर सिंह और डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय। इनमें डॉ० नामवर सिंह तो मार्क्सवाद की जमीन छोड़कर या उसे औपचारिक रूप से मानते हुये भी 'नयी समीक्षा' के व्यक्तिवादी भ्रमों के शिकार हुये और वे प्रगतिशील धारा या प्रवृत्ति को पहचान कर उसे विवेचक होने के स्थान पर मात्र 'कुछ चुने हुए' रचनाकारों को ही सराहते, स्थापित करते रह गए, जिसमें कुछ तो प्रतिक्रियावादी थे और कुछ स्वजन परिजन हैं। इसके दूसरे ध्रुव पर डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय स्वतंत्रता आन्दोलन की परम्परा को नकार कर क्रान्तिकारी वामपंथ के

अतिवादी ध्रुव की वकालत करने लग गए और 'गुरिल्ला चेतना' के संवाहक हो गए।

डॉ० उपाध्याय के साहित्य पर दृष्टिपात के बाद स्वतंत्रता संग्राम की प्रक्रिया में सृजित मूल्यों : आदर्शों को सम्प्रदायवाद तथा जातिवाद के विरोध के लिए राष्ट्र के अस्तित्व और उसकी रक्षा के लिए सुधारों और विकास के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं किन्तु डॉ० उपाध्याय मध्यपंथी राजनैतिक शक्तियों के स्थान पर, वामपंथी विकल्प के विकास को आवश्यक मानते हैं अन्यथा साम्यसमर्थक, पूंजीवाद-विरोधी राजनैतिक, सांस्कृतिक शक्तियां पिछलग्गू बनी रहेंगी : मध्यपंथी शासक, भ्रष्टाचार : विषमता : यथास्थिति और वर्गतुष्टीकरण का प्रतीक हो चुका था। भ्रष्टाचार और तानाशाही के प्रतीक मध्यपंथी शासन के विरुद्ध जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में व्यापक विरोध का आयोजन हुआ और सरकार में परिवर्तन हुआ, यह दूसरी बात है कि 'जनता' के नाम पर बना 'जनता दल' क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं कर सका, न भ्रष्टाचार रोक सका। अतएव, वामपंथीदल, संगठित और एक होकर इतिहास का अधूरा कार्य पूरा कर सकते हैं और इसके लिए क्रान्ति का विकल्प खुला रहा सकता है, यह डॉ० उपाध्याय का मत है। मध्यपंथी शासन का पिछलग्गू बनकर भारतीय साम्यवादी पार्टी जनता में अपना आधार और प्रथम स्थापित नहीं कर सकी। अतएव डॉ० शिवदान सिंह चौहान से डॉ० उपाध्याय सहमत नहीं हैं। वह यह मानते हैं कि जनतांत्रिक संघर्षों और जरूरत हो तो सशस्त्र संघर्ष द्वारा, इस समूची व्यवस्था और भ्रष्टाचार का उन्मूलन कर एक साफ सुथरी मानवीय व्यवस्था, सभ्यता और संस्कृति की स्थापना की जा सकती है।

डॉ० उपाध्याय का मत है कि स्वतंत्रता संग्राम के मूल्यों को अपनाये रखने का अर्थ यह नहीं है कि पथविचलित, संग्रहशील उपभोक्ता समाज के स्थापक मध्यपंथियों का अनुगमन किया



जाए। शोषित पीड़ित जनता स्वतंत्र संघर्षशील वामपंथियों का ही समर्थन कर सकती है, पिछलग्गुओं का नहीं।

जहाँ तक डॉ० शिवकुमार मिश्र की व्याख्या का प्रश्न है कि भारतीय काव्यशास्त्र की व्याख्या करते हुए डॉ० उपाध्याय ने देवताओं को शोषित और असुरों, दैत्यों, राक्षसों को शोधक क्यों सिद्ध किया है। इसका उत्तर डॉ० उपाध्याय यह देते हैं कि देवता मनुष्यता के प्रतीक रूप में गढ़े गये हैं। वे भलाई के प्रतीक हैं और दैत्य बुराई के। बुराई हमेशा भलाई से प्रबल होती है और वह सदा भद्र समाज को पीड़ित करती है। अतः पूरी भारतीय परम्परा में दैत्यों को प्रबलतर दिखाया गया है। इसीलिए साहित्य का उद्देश्य यह निश्चित किया गया था कि लोग रामवत् आचरण करें, रावणवत् नहीं। इस अर्थ में दैत्य उत्पीड़क माने गए हैं, देवगण उत्पीड़ित।

अमित का आलोचना-कर्म रामविलास शर्मा और रांगेय राघव के निकट सम्पर्क में प्रारम्भ हुआ और रामविलास शर्मा के संपादन में निकले आलोचना-मासिक 'समालोचक' के वह उसके समूचे जीवन-भर (1958-60) सह-संपादक रहे। तत्कालीन मार्क्सवादी हिंदी आलोचना में इन दो परस्पर विरोधी छोरों के बीच विकसित होने के कारण ही विश्वम्भर नाथ उपाध्याय एक आलोचक की हैसियत से, आलोचना में संतुलन और परिप्रेक्ष्य के सवाल पर गंभीरतापूर्वक विचार करके सफलतापूर्वक अपनी दिशा तय कर सके। भारतेन्दु के इतने आत्मीय-वृत्त में रहकर भी, आलोचनात्मक-संघर्ष के आरम्भिक काल में, उनके अनेक पूर्वाग्रहों और अन्तर्विरोधों से अपने को बचाकर अपना रास्ता बनाना बहुत सरल नहीं था। सामान्यतः रामविलास शर्मा को दी गई व्यापक स्वीकृति और समादर के बावजूद अनेक मुद्दों पर वह उनसे भिन्न रास्ता अपनाते हैं और प्रगतिवादी आलोचना में दोहराई जाने वाली गलतियों का मार्जन करते हैं। इस संदर्भ में मुझे

लगता है, रांगेय राघव की भूमिका निर्णायक महत्व की रही है। हिंदी की प्रगतिवादी समीक्षा में रांगेय राघव के महत्व पर टिप्पणी करते हुए वह लिखते हैं 'वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिकतम साहित्य तक डॉ० रांगेय राघव ने साहित्य को भारतीय समाज के द्वन्द्वात्मक विकास के साथ सम्बद्ध करके देखा। इस लम्बे विकास में प्रत्येक युग के साहित्य के प्रगतिशील तत्व को इसके प्रतिक्रियावादी तत्वों से फटककर हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है। उनकी आधुनिक साहित्य की व्याख्या अतीत के इन प्रगतिशील तत्वों से अविच्छन्न रूप से सम्पृक्त की गयी है और अतीत की व्याख्या इसलिए की गयी है ताकि अपने साहित्य और समाज के विकास को समझकर हम अपने वर्तमान के साहित्य और समाज को वांछनीय दिशा दे सकें। अतः उनकी आलोचना में जो 'समग्रता' है, वह आज के किसी भी आलोचक के लिए स्पृहणीय है। ऐसा लगता है कि अपने निर्माणकाल में विश्वम्भर नाथ उपाध्याय सीखते रामविलास शर्मा से भी बहुत-कुछ हैं, लेकिन स्वीकार वह रांगेय राघव को ही करते हैं। उनके अपने विकास-क्रम में रांगेय राघव की आलोचना-दृष्टि की यह समग्रता यदि उनके लिए सुलभ न होती तो हो सकता है कि राम विलास शर्मा से भिन्न और स्वतंत्र रास्ता बनाने में उन्हें अनेक मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। रामविलास शर्मा के दुर्दुर्ष आलोचना-व्यक्तित्व की छँह में पल-संवर कर भी वह उनके अनेक पूर्वाग्रहों से अपने को बचा सकें, साधारण दिखाई देने पर भी यह बात उतनी साधारण नहीं है।

विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने रामविलास शर्मा और नामवरसिंह की तरह हिन्दी साहित्य के विशिष्ट कालखण्डों और रचनाकारों को पुरान्वेषण और मूल्यांकन का कार्य अपेक्षाकृत बहुत कम किया है। उनका अधिकांश आलोचना-कर्म या तो शोध के फ्रेमवर्क में हुआ है या फिर आलोचनात्मक निबन्धों के रूप में। इस दृष्टि से, अपनी प्रकृति में उनका आलोचनाकर्म शिवदान

सिंह चौहान और रांगेय राघव के अधिक निकट पड़ता है। रांगेय राघव की ही तरह उनकी आलोचना का पाट बहुत चौड़ा है और शिवदान सिंह चौहान की तरह वह छोटे-छोटे निबन्धों द्वारा मार्क्सवादी आलोचना के अनेक सैद्धान्तिक मुद्दों को उठाने का परीक्षण भी करते हैं। इस तरह उनकी आलोचना किसी बड़े रचनाकार अथवा काल-खण्ड पर व्यवस्थित अध्याय और मूल्यांकन का उदाहरण न बन पाने पर भी एक बड़े परिदृश्य और उसमें कार्यरत उनके छोटे-बड़े रचनाकारों पर की गयी टिप्पणियों के रूप में विकसित होती देखी जा सकती है।

विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने अपने आलोचना कर्म की शुरुआत 'महाकवि निराला-काव्य', कला और कृतियों, पंतजी का नूतन काव्य और दर्शन तथा हरिऔधजी का प्रियप्रवास आदि कृतियों से की थी। उनका यह प्रारम्भिक कार्य अपनी प्रकृति में बहुत मौलिक और उल्लेखनीय न होने पर भी कुछ ऐसी विशेषताओं अवश्य लिए हैं जिनका विकास उनके परवर्ती आलोचना-कर्म में सहज ही देखा जा सकता है।

आलोचक के रूप में अपने लिए एक स्वतंत्र मार्ग-निर्माण के इस कार्य का अपना महत्व है जिस पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। इस क्रम में एक ओर उन्होंने रामविलास शर्मा की अनेक मान्यताओं और पूर्वाग्रहों से अपने को यत्नपूर्वक बचाया तो दूसरी ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को वैसे उत्साह के साथ, प्रायः ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जैसा रामविलास शर्मा ने उनकी अनेक ऐतिहासिक सीमाओं और अन्तर्विरोधों की उपेक्षा करके उन्हें लगभग एक क्रान्तिकारी आलोचक के रूप में प्रस्तुत किया था। विश्वम्भर नाथ उपाध्याय रामविलास शर्मा की उन गलतियों से भी अपने को बचाते हैं जो उन्होंने प्रगतिवाद के प्रमुख लेखकों की उपेक्षा की और अवमूल्यन के क्रम में की थी। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव और मुक्तिबोध

आदि लेखकों में, छिट-पुट निबन्धों में ही, विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने कदाचित् रांगेय राघव पर ही सबसे अधिक लिखा है और उनके मूल्यांकन में उनकी दृष्टि और पद्धति रामविलास शर्मा की रांगेय राघव सम्बन्धी मूल्यांकन की निषेधवादी पद्धति से एकदम भिन्न है। राहुल, यशपाल और मुक्तिबोध के संदर्भ में भी उन्हें लेकर इस निषेधवादी आलोचना-दृष्टि का प्रत्याखन उन्होंने किया है—भले ही विस्तारपूर्वक और व्यवस्थित रूप में इन लेखकों पर लिखने की सुविधा उन्हें न मिली हो।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को 'प्रगतिशील' ओर 'जनवादी' सिद्ध करने वाली आलोचना-दृष्टि का वह स्पष्ट विरोध करते हैं। इस प्रसंग में उनका विचार है....आचार्य शुक्ल के अभिमतों को, उनके व्यक्तित्व, विश्वबोध, विश्वास और उनके आदर्शों से अलग करके देखना गलत है, अप्रामाणिक है। उनकी जो विशिष्टता है, वही उनकी सीमा भी है। उदाहरण के लिए शुक्लजी सिद्ध-साहित्य नाथ-इतिहास और संत-साहित्य और यहाँ तक कि कृष्णभक्ति साहित्य के प्रति भी उतने ही उदान नहीं है जितने सगुण रामभक्त कवियों, विशेषकर तुलसी-साहित्य के प्रति वह शुक्लजी को आत्मवादी और भाववादी ही मानते हैं और उनके निबन्ध क्षात्रधर्म का सौंदर्य के साक्ष्य पर उन्हें बाकायदा 'राम-भक्त' भी कहते हैं। भक्तिकाल पर पुनर्विचार के क्रम में लिखे गये अपने अनेक लेखों में विश्वम्भर नाथ उपाध्याय शुक्लजी की अनेक धारणाओं एवं अभिमतों से टकराते हैं। शुक्लजी की ऐतिहासिक सीमाओं के बीच उन्हें रखकर भी वह उनके महत्व के प्रति उदासीन नहीं हैं। उनके महत्व को लेकर उनकी टिप्पणी है 'आचार्य शुक्ल में परस्पर विरोधी प्रत्ययों का घपला नहीं है। उन्होंने भारतीय परम्परा के काव्य शास्त्र का सीमा विस्तार अवश्य किया है पर इतना नहीं कि वह अपनी पारम्परिक बुनियाद से च्युत हो जायें और त्रिशंकु की तरह न देश के न विदेश के किंमाकारी दिखाई पड़ने

लग जायें। उनके काव्य—सिद्धान्त की सीमा है पर उनमें अभिमत अवधारणाओं/प्रविधियों का मनमाना मिश्रण नहीं है।

इस प्रकार विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने शुक्लजी द्वारा छोड़ी गई कड़ियों पर संक्षेप में ही सही, पुनर्विचार का उपक्रम किया। इस पुनर्विचार का महत्व चिंतन की नयी दिशाओं के अन्वेषण में उतना नहीं है जितना स्वयं अपनी आलोचना—दृष्टि के निर्माण और निर्धारण की दृष्टि से है। उन्होंने 'हिंदी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि' संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में भारतीय काव्य शास्त्र का अध्ययन आदि द्वारा हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना का क्षेत्र—विस्तार किया है और अपनी सांस्कृतिक धरोहर के विनियोग की अनेक संभावनायें उजागर की हैं।

संस्कृत काव्य—शास्त्र की संभावनाओं के नये क्षितिजों के उद्घाटन की दृष्टि से 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में भारतीय—काव्य शास्त्र का अध्ययन' एक महत्वाकांक्षी प्रयास है। लेखक की मान्यता है कि रीतिका में संस्कृत काव्य—शास्त्र के सिद्धान्त ही, किंचित परिवर्तन के साथ यथावत स्वीकृत हुए थे। अतः भारतीय काव्य शास्त्र की भौतिकवादी पुनर्व्याख्या, प्रकारान्तर से, रीतिकालीन हिन्दी काव्य शास्त्र की पुनर्व्याख्या है। इसी प्रसंग में लेखक यह भी मानता है कि प्रत्येक देश में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी जीवन—बोध कन्टेंट के रूप में ही रह सकता है अतः अपने स्वरूप में उसका राष्ट्रीय होना अनिवार्य है 'अतएव काव्य शास्त्र के राष्ट्रीय रूप के लिए परम्परा का मार्क्सवादी दृष्टि से अनुसंधान एक ऐतिहासिक आवश्यकता है.....।' विज्ञान की नवीनतम शोधों के आलोक में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्याओं के संशोधन और पुनर्व्याख्या को लेखक आवश्यक मानता है क्योंकि उठते रहे सवालियों के प्रति स्वयं को खुला रखकर ही, सापेक्षतावाद और अनिश्चततावाद के कारण

उठी अनेक शंकाओं के समाधान से ही मार्क्सवाद को प्रासंगिक और विश्वसनीय बनाया जा सकता है। उन नवीन शोधों के प्रकाश में पूर्व विश्वबोध को पुनर्व्यवस्थित किए बिना उसकी समकालीन सार्थकता संदिग्ध ही बनी रहेगी।

भारतीय काव्य शास्त्र के सृजनात्मक उपयोग की अनेक संभावनायें देखने पर भी विश्वम्भर नाथ उपाध्याय उसे आंशिक रूप से ही स्वीकार्य पाते हैं। गहरे विवेकपूर्ण परीक्षण के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस काव्य शास्त्र के अनेक बीजमंत्र वर्तमान साहित्य के मूल्यांकन में भी अपेक्षित संशोधन—परिवर्तन के बाद स्वीकार्य माने जा सकते हैं। आज रस और तन्मयता काव्य का आधार नहीं रहा है। जीवन को समझने और बदलने की दृष्टि पर अधिक जोर है। ग्रीक और संस्कृत नाटकों का मूल अन्तर भी वस्तुतः यही है। इसलिए आज के संदर्भ में ग्रीक नाटक अधिक प्रासंगिक लगते हैं। सौन्दर्य की भी समाजशास्त्रीय व्याख्या ही सार्थक हो सकती है। इस संदर्भ में भट्टलोल्लट और शंकुक की वस्तुगत व्याख्याओं को लेखक विशेष महत्व देता है। रस को आत्मगत न मानकर, वस्तुनिष्ठ रूप में ग्रहण करके ही रस सिद्धान्त की व्यापक परिप्रेक्ष्य में व्याख्या की जा सकती है। हिन्दी और कुछ प्रमुख हिन्दीतर विद्वानों की रस सिद्धान्त सम्बन्धी व्याख्याओं पर लेखक ने स्वतंत्र रूप से विचार भी किया है। लोक—जीवन के संदर्भ में अंलकारों का अध्ययन तो पहले भी हुआ था। विश्वम्भर नाथ उपाध्याय अंलकारों में प्रतिबिम्बित यथार्थ को अपने विश्लेषण और परीक्षण का आधार बनाते हैं।

समकालीन साहित्य के मूल्यांकन को विश्वम्भर नाथ उपाध्याय आलोचक के एक जोखिमपूर्ण दायित्व के रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि इसमें रचनाकार के 'सृजन—क्षण' में पकड़ना और विश्लेषित करना होता है। वह लिखते हैं ..... यह बड़ी बेढढ़ प्रक्रिया होती है।



रचनाओं और उनके वर्ण्य विषयों या प्रतिक्रिया क्षेत्रों में निमग्न होने और साथ ही तटस्थ होकर उन्हें ज्ञान और अनुभव का विषय बनाने एवं विश्लेषण की धार पर रखकर उनके मूल्यों को पहचानने का कार्य अनेक जोखिमों से भरा है... लेकिन कोई भी दायित्व-सम्पन्न आलोचक इस जोखिम से बच नहीं सकता। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में युगीन परिवर्तन की आकांक्षा को ही वह समकालीनता की पहचान के रूप में स्वीकार करते हैं। यह समकालीनता पश्चिम की ह्रासशील एवं पतनशील प्रवृत्तियों के अनुकरण में न होकर सामाजिक संरचना की वैज्ञानिक समझ, यथार्थ के वस्तुगत अंकन और समाज में सक्रिय प्रगतिशील शक्तियों की पक्षधरता में निहित है। इस दृष्टि से उन्होंने स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में प्रचलित और चर्चित अनेक प्रभावों, सिद्धान्तों, अवधारणाओं और बीज-शब्दों की व्याख्या की है। समकालीनता, आधुनिकता, विद्रोह और क्रान्ति, प्रामाणिक-अनुभव, अजनबीपन, गुरिल्ला चेतना, शैलीतत्व, वाम-संस्कृति आदि इसी प्रकार की अवधारणायें और हिंदी आलोचना में प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं। समकालीनता के संदर्भ में वह 'भूखी पीढ़ी' और 'विद्रोही पीढ़ी' जैसे आंदोलनों में सार्थकता देखते हैं। क्योंकि इनसे साहित्य में यथास्थिति के विरोध में परिवर्तन की आकांक्षा के प्रसार को बल मिलता है। लेखक को तेजस्वी एवं सक्रिय लेखकों की परम्परा से अपने को जोड़कर इस परिवर्तन की आकांक्षा को धार देनी चाहिए 'मर्द की तरह आगे बढ़कर, जन-युद्ध में शामिल होना ही, सच्ची समकालीनता है, शेष सब प्रलाप या पथभ्रष्टता है....।

इन्द्रनाथ मदान की तरह वह आधुनिकता को एक 'प्रक्रिया' न मानकर 'दृष्टि' मानते हुए उसे परिभाषित करते हैं : आधुनिकतावाद एक दृष्टि है, अपनी और अपनी परिस्थितियों की सही पहचान और अभीन्साओं की पूर्ति के लिए संभावनाओं और विकल्पों की खोज फेदिन आधुनिकतावाद की प्रगतिवाद के विरुद्ध मानते हैं

जो परम्परा और यथार्थ विरोधी अवधारण है और इसीलिए वह समाजवादी यथार्थवादी की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय अमृतराय की तरह आधुनिकता की दो धारयें स्वीकार करते हुए वामपंथी आधुनिकता के वर्ण पर जोर देते हैं क्योंकि वह यथास्थिति का विरोध करके सामाजिक परिवर्तन पर पक्षधर है। यह देशकालीन धारणा न होकर, समकालीनता और अपनी जातीय समस्याओं की ही स्वाभाविक परिणति है। पश्चिम में आधुनिकता के विस्फोट ने अनेक 'मुदाओं' को जन्म दिया है। यह वर्जनहीन आधुनिकता व्यवस्था को चोट पहुँचाये बिना आत्मरित और अराजकता को प्रोत्साहित करती है। क्रान्ति एक विशिष्ट देशकाल और इतिहास की सीमाओं में ही सार्थक है। क्रान्ति का सातत्य एक बुर्जुआ धारणा है। आधुनिक दृष्टि से ही परम्परा के जीवन्त और प्रगतिशील तत्वों को स्वीकार और विकसित किया जा सकता है। विद्रोह के संदर्भ में लेखक की कथनी-करनी दोनों में समन्वय बहुत जरूरी है, 'विद्रोही में श्रम-विभाजन नहीं चल सकता कि हम केवल 'लेखन' में विद्रोह करेंगे, साधारण लोग जीवन में विद्रोह करें। इसी प्रकार प्रामाणिक अनुभव के नाम पर यदि वह साहित्य में वैचारिक शून्य का विद्रोह करते हैं। तो अजनबीपन को, सामाजिक विकास की वैज्ञानिक चेतना के संदर्भ में एक अवैज्ञानिक धारण बताकर खारिज कर देते हैं। फ्रॉयडवाद, उनके मतानुसार आत्मसम्मोहन और आत्म प्रक्षेपण पर बल देने के कारण व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन देता है। मनुष्य की मूल प्रवृत्ति को अपरिवर्तनीय मानकर वह यथास्थिति का ही समर्थन करता है क्योंकि सम्पत्ति का संग्रह भी एक मूल-प्रवृत्ति है। अतः वह वर्गहीन समाज के निर्माण को कोरी कल्पना कहकर टालने की कोशिश करता है। लेकिन धार्मिक अंधविश्वासों के द्वंद्व में फ्रायड और उसके दर्शन की भूमिका का क्रान्तिकारी महत्व है। विश्वम्भर नाथ उपाध्याय लेखकों और रचनाओं का स्पष्ट

उल्लेख करते हैं और अपने विश्लेषण में वह कहीं भी संशय की स्थिति में नहीं रहते। एक आलोचक के रूप में उन्हें यह अच्छी तरह मालूम है कि उन्हें किसका विरोध करना है और किसना समर्थन लेकिन दोनों पक्षों के तर्कों को भली-भांति तौलकर ही वह अपने निष्कर्षों की ओर बढ़ते हैं जिसके कारण यांत्रिकता और सरलीकरण से वह काफी दूर तक अपने को बचा पाने में सफल होते हैं।

समकालीन साहित्य के मूल्यांकन में विश्वम्भर नाथ उपाध्याय मुख्ततः नयी कविता के बाद की कविता की पड़ताल करते हैं लेकिन अनेक निबन्धों में वह कहानी, आलोचना और अन्य विधाओं की रचनाओं एवं रचनाकारों की ओर भी मुड़ते हैं। मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, धर्मवीर भारती और धूमिल से लेकर वह अनेक युवा कवियों तक आते हैं। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द से लेकर यथापाल, रांगेय राघव, मुक्तिबोध, अशक और कमलेश्वर आदि की रचनाओं का परीक्षण-मूल्यांकन करते हैं। उस मूल्यांकन में विश्वम्भर की पद्धति न अपनाकर सामान्यतः उनकी रचनाओं के मूल वैशिष्ट्य को पकड़कर, ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों में उनका महत्व निर्धारण करते हैं। वैसे चाहने पर अन्तरंग पाठ-विश्लेषण की पद्धति भी वह अपना सकते हैं इसका प्रमाण 'दादा-कॉमरेड' और 'कब तक पुकारूं' पर लिखे गये उनके निबन्धों से मिल जाता है।

समकालीन कविता की भूमिका में विस्तारपूर्वक समकालीन कविता के प्रकृति और स्वभाव के स्पष्ट करते हैं आज की कविता अपने समय से सीधी और उग्र मुलाकात की कविता है। उसमें चित्रित आदमी नयी कविता में चित्रित आदमी से इस रूप से भिन्न है कि जब तक कौंधते क्षणांशों में निमग्न जिस मानव प्रतिमा के अंकित किया है उससे हमारी कोई सुनिश्चित पहचान नहीं बन पाती 'अंधा युगत', 'आत्मजयी',

'असाध्य वीणा' और 'संशय' की एक रात वगैरह में जो चित्रित व्यक्ति है वह काल के प्रति ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं देखता, सिर्फ दार्शनिक दृष्टि से देखता है' नयी कविता के विरुद्ध इस समकालीन कविता में उपाध्याय अनेक संभावनायें देखते हैं। समकालीन कविता की फँटेसी छायावाद और नयी कविता की फँटेसी से भिन्न है। उसमें आज के आदमी की ऊब, गुस्सा और दुःस्वप्न है। यह यथास्थिति में सक्रिय हस्तक्षेप से सत्ता वर्ग के निर्णयों को प्रभावित करने वाली कविता है। प्रबुद्धों की संस्कृति के विरोध में वह हैवनाट्स की कविता है। इस कविता में बुर्जुआ गणतंत्र को खूब चपतियाया गया है जैसे धूमिल की पटकथा और निर्मल की कुछ हो रहा है आदि कविताओं में सातवें दशक की कविता में विश्व-मंच पर 1964-68 के युवा विद्रोह के व्यापक संकेत आसानी से देखे जा सकते हैं। फ्रांस, इटली, ब्राजील, मिलान, अंकारा, स्पेन, सियोल अनेक देशों में छात्र असंतोष और पुलिस तथा दक्षिणी-वामपंथी छात्र संघर्ष की छवियां और संदर्भ इस कविता में बहुतायात से उपलब्ध है। गुरिल्ला कविता की अवधारणा का विकास वस्तुतः इसी पृष्ठभूमि में संभव हो सका। यह कविता यदि एक ओर अकविता के स्वेच्छाचार का विरोध करती है। तो दूसरी ओर वह दलबद्धता के स्थान पर समाजवादी सिद्धान्तों और चिंतन के प्रति अपना सरोकार घोषित करती है। इस दशक के सर्वाधिक चर्चित और विवादास्पद कवि धूमिल को लेकर विश्वम्भर नाथ उपाध्याय की टिप्पणी है-धूमिल सोभित अनुभव-जगत के कवि हैं। इसी तरह अन्यत्र वह 'पटकथा' पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं- 'असलियत यह है 'पटकथा' एक सरलीकृत क्रांतिबोध की रचना है' इस समूची कविता को वह अन्ततः कविता के रूप में ही, उनके सामाजिक संदर्भों में, परखने और विचार करने की जरूरत पर बल देते हैं।

कहानी के क्षेत्र में 'स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी कथा-साहित्य' में संकलित अपने तीन व्याख्याओं

में विश्वम्भर नाथ उपाध्याय कहानी की विकास यात्रा पर प्रकाश डालते हैं। अनेक प्रसंगों में अनेक ढंग से, वह प्रेमचंद की 'पूस की रात', नशा, शतरंज के खिलाड़ी, और कफन की चर्चा करते हैं। वह मानते हैं कि प्रेमचन्द्र यथार्थ को प्रतीत की कला में बदल सकने की दृष्टि से अत्यन्त निपुण लेखक हैं। नयी कहानी में भी मूल्यों का घाल-मेल स्पष्ट है और उसकी दो धाराओं को सजगतापूर्वक बिलगाने और उसकी प्रगतिशील परम्परा के विकास की आवश्यकता है। नयी कविता की तरह नयी कहानी के उक्त लेखकों में मूल्यगत अवमिश्रण है उनमें मूल्य और महत्वकांक्षा की टकराहट है अतः मध्यवर्गीय चरित्रों द्वारा वे मध्यवर्गीय चरित्र की कहानियां हैं। इसीलिए उषा प्रियवंदा और मन्नू भंडारी के नारी पात्र अपनी नजर का घेरा तोड़कर अन्य जनसमूहों के नारी-व्यक्तित्व की ओर आँख उठाकर नहीं देखते। लेखिकाओं में नारी पात्र अपनी लड़ाई लड़ते हैं, लेकिन यह नहीं देख पाते हैं कि अपनी लड़ाई औरों की लड़ाई से जुड़ी हुई है—नयी कहानी को वह व्यवस्था-विरोध की अपेक्षा वर्जना-विरोध की कहानी में यथार्थवाद के विकास पर संतोष प्रगट करते हैं 'यथार्थवाद ही जन क्रान्ति या सामाजिक परिवर्तन को तीव्र कर सकता है, इस सत्य की स्वीकृति साठोत्तरी कथा-साहित्य की विशेषता है।

विश्वम्भर नाथ उपाध्याय द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के फ्रेमवर्क में एक संग्रहित और सामग्रिक आलोचना-पद्धति के विकास पर बल देते हैं। उनका कहना है — आधुनिक आलोचनात्मक प्रवृत्तियों का एक महाप्रविधि में आदर्श संग्रथन स्थापत्य के सादृश्य पर हो सकता है, जिसमें एक पूर्वयोजना के अनुसार, किसी नींव के ऊपर एक ढांचे के सहारे, भवन की रचना की जाती है। मार्क्सवाद इस नींव और ढांचे के लिए सर्वाधिक उत्साही प्रत्याशी है। उसके प्रवक्ताओं ने अनवरत् रूप से इस तथ्य पर बल दिया है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही ऐसा संग्रहक आधार

और ढांचा है जो ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में नवीनतम विकास का प्रयोग कर सकता है। वस्तुतः मार्क्सवाद का यही कार्य होना चाहिए — विश्वम्भरनाथ उपाध्याय अभी तक भले ही स्वतंत्र रूप से महत्वपूर्ण रचनाकारों का मूल्यांकन इस पद्धति से न कर सके हो, लेकिन इसकी संभावनाओं को नकारा नहीं जा सकता। इस दिशा में जो भी छिट-पुट और अव्यवस्थित ही सही कार्य उन्होंने किया है उससे इस आलोचना-दृष्टि और पद्धति की सार्थकता स्वतः प्रमाणित है।

### संदर्भ सूची

- ✓ हिन्दी आलोचना की परिभाषिक शब्दावली—अमरनाथ
- ✓ हिन्दी समीक्षा दशा और दिशाएं सम्पादक—डॉ० मंजुल उपाध्याय
- ✓ आलोचना और विचारधारा—नामवर सिंह सं०—अशीष त्रिपाठी
- ✓ आलोचना के थेट्स—गणेश पाण्डेय
- ✓ आलोचन और विचारधारा—नामवर सिंह अशीष त्रिपाठी
- ✓ हिन्दी समीक्षा ओर आचार्य शुक्ल—नामवर सिंह सं० ज्ञानेन्द्र कुमार संतोष
- ✓ हिन्दी आलोचना का दूसरा पाठ—निर्मला जैन
- ✓ हिन्दी आलोचना का विकास—मधुरेश
- ✓ हिन्दी आलोचना : दृष्टि और प्रवृत्तियाँ—मनोज पाण्डेय
- ✓ हिन्दी आलोचना में कैनन—निर्माण की प्रक्रिया—मृत्युंजय
- ✓ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—रामकुमार वर्मा

- 
- ✓ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल
  - ✓ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आलोचना का अर्थ : अर्थ की आलोचना—चतुर्वेदी
  - ✓ हिन्दी आलोचना के आधार पर स्तम्भ—डॉ० आर०पी० वर्मा
  - ✓ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—लक्ष्मीसागर
  - ✓ हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास—विजयपाल सिंह
  - ✓ हिन्दी आलोचना : विविध आयाम—सं० राम किशोर शर्मा
  - ✓ हिन्दी समीक्षा दशा और दिशाएं – सम्पादक राम किशोर शर्मा